

संपादक

यशदेव शल्य - मुकुंद लाठ

उन्मीलन

प्रबन्ध संपादक

अंबिकादत्त शर्मा

मानसिक हिन्द स्वराज का
वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 18, अंक 2

जुलाई, 2004



भारतीय दर्शन की समसामयिक अन्वीक्षा : कविराज जी का दृष्टिकोण*

नवजीवन रस्तोगी

तन्त्रालोक पर अपनी महाप्राण टीका विवेक का समापन करते हुए जयरथ ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अधिकारी विद्वान का आदर्श निम्नलिखित शब्दों में उपस्थित किया है—

योऽधीती निखिलागमेषु पदद्विद् यो योगशास्त्रश्रमी
यो वाक्यार्थसमन्वये कृतरतिः श्रीप्रत्यभिज्ञामृते।
यस्तर्कान्तरविश्रुतश्रुततया द्वैताद्वयज्ञानवित्
सोऽस्मिन्स्यादधिकारवान् कलकलप्रायं परेषां वचः॥¹

मुझे लगता है कि इस मानक का भारतीय दर्शन के विस्तृततर फलक में सार्थक उपयोग किया जा सकता है और हम दोनों ही क्षेत्रों में पाएंगे कि कविराज जी इस मानक के मूर्तिमान प्रतिबिम्ब थे। भारतीय दर्शन के प्रत्येक क्षेत्र में - गहराई और प्रसार दोनों में—गहरी डुबकी लगाकर उसमें अनेक मौलिक सम्भावनाओं का अनुसंधान कर सकना उनकी जैसी महाप्राण तलस्पर्शिनी मेधा के ही बूते की बात थी।

दर्शन और साधना के क्षेत्र सामान्यतः भिन्न समझे जाते हैं। परम्परागत, मुख्यतः पश्चिमी, अवधारणा में दर्शन का सम्बन्ध अनिवार्यतः बुद्धि, हेतु या तर्क से जोड़ा गया है। प्रत्येक मन्तव्य या कथन के पीछे हेतु देना आवश्यक है। भारत में भी एक युक्तिपुष्ट पूर्वपक्ष या प्रतिपक्ष-खण्डन-पूर्वक सिद्धान्तपक्ष की स्थापना की गयी है। सच पूछा जाए तो भारतीय दर्शन के विकास की यह अन्यतम प्रक्रिया रही है। बौद्धों और नैयायिकों, मीमांसकों और बौद्धों, अद्वैतवादियों और द्वैतवादियों के पारस्परिक शास्त्रार्थ, खण्डन-मण्डन की परम्पराएँ इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। परन्तु दूसरी ओर यह भी इतना ही सच है कि भारतीय साधना को इस अर्थ में दर्शन से समीकृत करना कठिन होगा, क्योंकि साधना अपनी पारम्परिक अवधारणा में युक्ति, बुद्धि या तर्क से उत्तरण या व्यतिरेक की स्थिति है। अतः साधना और दर्शन—भारतीय संस्कृति की इन दो अन्तर्धाराओं—में आपातिक विरोध जान पड़ता है। परन्तु कविराज जी इस 'आपातिक' शब्द को रेखांकित करते हैं। उनकी दृष्टि में यह विरोध आधारभूत नहीं है। अपने प्रसिद्ध लेख 'शाक्त फिलॉसफी' में वे कहते हैं कि युक्ति का काम है अनुभूति का विश्लेषण और व्यवस्था—या दूसरे शब्दों में उसकी अर्थवत्ता और मूल्यवत्ता—का निर्धारण। इस अर्थ में युक्ति की भूमिका पूरक है, विरोधी नहीं।²

अपने दूसरे "द व्यू प्वाइन्ट ऑफ न्याय-वैशेषिक फिलॉसफी" में उन्होंने इस समस्या पर ज्यादा गहराई से विचार किया है।³ कविराज जी की मान्यता है कि भारत के सभी

दार्शनिक सम्प्रदायों का मूल प्राचीन भारत के धार्मिक विचारों में है। उन्हें आशंका थी कि कहीं कोई यह न समझ बैठे कि वे धर्म और दर्शन को मिश्रित कर रहे हैं, अतः न्याय दर्शन के प्रयोजन, पद्धति और दर्शन के सामान्य अर्थ के बारे में भूमिका के रूप में उन्होंने अपने विचार प्रकट करना आवश्यक समझा था।¹

सर्वप्रथम वे हेतु और श्रुति या शब्द के अन्तर की ओर ध्यान दिलाते हैं। उनकी दृष्टि में भारत में दर्शन का, विशेषतः उसके प्राचीनतर और सत्यतर रूप में, लक्ष्य व्यावहारिक प्रयोजन की सिद्धि था। अतः यहां मात्र तर्कणा या चिन्तन को वन्ध्य माना गया। युक्ति का काम न तो रचनात्मक है और न प्रातिभ, इसका काम तथ्यों की व्याख्या मात्र है। अन्ततः इसका अन्तिम आश्रय साक्षात् प्रतीति को ही मानना पड़ता है। चूँकि सामान्य मानवीय अनुभव की परिधि सीमित है और त्रुटियों की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता अतः अनुभव, जिस पर हमारी युक्ति आश्रित है, को असीमित और मानवीय दोषों से मुक्त मानना होगा। यही असीमित अनुभव श्रुतियों में निहित है। इस श्रुति-प्रातिभ शाब्द-ज्ञान के आलोक के बिना युक्ति सत्य का कभी भी अनुसंधान न कर सकेगी। यदि सत्य का आविष्कार दर्शन का लक्ष्य है और दर्शन का अर्थ केवल बुद्धि-क्षेत्र का व्यापार है तो यह सारा उद्यम तब तक आत्मघाती सिद्ध होगा जब तक युक्ति को श्रुति का, आगम का, पार्षद नहीं बना दिया जाता। मध्ययुगीन यूरोप की मान्यता 'विश्वास करो और तब जानो' को वे सामान्य भारतीय आदर्श 'श्रद्धावानल्लभते ज्ञानम्' में प्रतिध्वनित पाते हैं।

तब युक्ति की सही भूमिका क्या होगी? कविराज वही प्रश्न उठाते हैं जो न्यायवार्तिक के रचयिता उद्योतकर ने और न्यायबिन्दु के टीकाकार धर्मोत्तर ने उठाया था। उनका समाधान भी प्रायः वही है। उनका कहना है कि यद्यपि शब्द या श्रुति सत्य ज्ञान का अन्तिम उद्गम है तथापि हमारी वर्तमान मनःस्थिति में इन शब्दोद्भासित तथ्यों को बिना कोई प्रश्न या सन्देह किये स्वीकार करना कठिन होता है। जैसे ही हमारे मन में यह प्रत्यय जागता है कि ये तथ्य सम्भाव्य हैं और नितान्त असंगत नहीं हैं, युक्ति का व्यापार समाप्त हो जाता है।¹ इस प्रकार युक्ति का कार्य किसी भी वाक्य या कथन के सम्बन्ध में 'सम्भावना-बुद्धि' का जागना है न कि उसकी 'निश्चितता' का। यौक्तिक व्यापार से वस्तु की पारमार्थिकता या निश्चितता का निर्धारण सम्भव नहीं है (तर्कानामप्रतिष्ठानात्)। कारण यह है कि सारी दक्षता या सावधानी के बावजूद सभी बौद्धिक व्यापारों में किसी न किसी प्रकार का आत्म-विरोध अवश्य रहता है। यही कारण है कि कैसी भी प्रस्थापना क्यों न हो उसका साधक हेतु ढूँढना कठिन नहीं होता। इसलिए सत्य की असंदिग्धता या पारमार्थिकता की सिद्धि के लिए युक्ति-प्रक्रियाओं का निर्विकल्पक वैयक्तिक उपलब्धि की प्रक्रियाओं—समाधि/मनन और निदिध्यासन—से उपवृंहण करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में यही योग है—आध्यात्मिक अनुशासन की वह प्रक्रिया जो मानसिक व्यापार को निलम्बित कर सत्य का साक्षात्कार या प्रातिभ ग्रहण कराती है। इसलिए कविराज जी का, उन्हीं के शब्दों में, निष्कर्ष है—अपने सीमित अर्थ में दर्शन मानव-जीवन के अभिसंस्करण की दिशा में एक

चरण है। इसे फल-प्रद बनाने के लिए यह आवश्यक है कि यह प्रातिभ साक्षात्कार द्वारा प्रदत्त तथ्यों की अधीनता में रहे। अन्यथा इसके दिग्भ्रांत होने की संभावना बनी रहती है।

यदि ऐसा है तो यह समझना दुष्कर नहीं रहता कि दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय, जो देखने में अक्सर परस्पर विरोधी लगते हैं, कैसे अस्तित्व में आते हैं। परम सत्य, जो अतिमानस प्रातिभ ज्ञान के आलोक में भासित होता है, वस्तुतः एक एवं अविभाज्य है, परन्तु वही विभिन्न साधकों की रुचि और सामर्थ्यभेद-जन्य भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता है। जब तक व्यष्टीभूत चेतना बनी रहती है—जब तक ज्ञान के साधन के रूप में 'मन' का बहिष्कार नहीं होता—तब तक निरपेक्ष अखण्ड सत्य की उपलब्धि सम्भव नहीं। मानवीय बुद्धि की इयत्ता सापेक्ष या खण्ड सत्य की प्राप्ति में चुक जाती है। यही खण्ड या सापेक्ष सत्य, जो कि अखण्ड सत्य के अंश हैं, विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों के तात्कालिक प्राप्य बनकर उभरते हैं। आत्म-प्राप्ति की खोज में साधक की ऊर्ध्वारोही यात्रा की ये विभिन्न अवस्थाएँ हैं। जब इन्हें एकत्रित कर परिणत अवयवी/पूर्ण के सन्दर्भ में उनका अध्ययन किया जाएगा तो समन्विति का एक ऐसा उदात्त चित्र उन्मीलित होगा जो मानवता के हित में गहरी अर्थवत्ता से मण्डित होगा। यद्यपि अभी यह चित्र ढँका-मुँदा और परोक्ष है परन्तु यह वह भव्यतम सम्भावना है जो हमारे मन की पहुँच की परिधि में है।

एक बात ध्यान देने की है। सम्प्रदायों का यह समन्वय या एकत्रीकरण इसलिए सम्भव है क्योंकि सबके मूल में एक वास्तविक एकता/अद्वैत है। इसका हेतु है सभी सम्प्रदायों की श्रुति में असंदिग्ध निष्ठा। यह केवल श्रुति के व्याख्यान का उनका अपना ढंग है जिसके कारण सम्प्रदाय अलग हो जाते हैं। इस ढंग का निर्धारण उन व्यक्तियों की सामर्थ्य से होता है जिनके लिए वह अभिप्रेत है। इस दृष्टि से बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं।

पारिभाषिक तौर पर जिसे अधिकार-भेद कहा जाता है उसके पीछे यही रहस्य है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति सत्य के प्रत्येक आकार को ग्रहण करने में सक्षम नहीं है। बोध-तन्त्र धीरे-धीरे विकसित होता है। विकास की इस प्रक्रिया में वे सत्य, जो कभी अबोधगम्य और अस्पष्ट लगे थे, अर्थ-गाम्भीर्य धारण करने और ग्राह्य होने लगते हैं। इस प्रकार एक युग की भ्रांति दूसरे युग की बुद्धिमत्ता बन जाती है। यही बात देशों और व्यक्तियों के साथ होती है। ऐसी मान्यता है कि कर्म-पिछले जन्मों की क्रियाओं से इकट्ठी की गयी और निम्नतर व्यक्तित्व की विधायक वासनाएँ और वृत्तियाँ-मनुष्य के सत्य-बोध में बाधक हैं। जैसे ही ये बाधाएँ दूर हो जाती हैं—चाहे मानसिक जीवन पर अपनी सहज प्रतिक्रिया के द्वारा प्रायोजित होकर या ज्ञान अथवा योग के द्वारा नष्ट की जाकर—आवृत सत्य एकबारगी ही उद्भासित हो उठते हैं। शास्त्रकार या गुरु का काम है मानसिक ग्रहणशीलता के इस मात्रा-भेद या तारतम्य को पकड़ना और तदनुसार प्रवर्तन करना।

ऊपर के विवेचन से इतना स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन के अवान्तर सम्प्रदायों में एक वास्तविक क्रम है जो थोड़े से गहन अध्ययन से पहचाना जा सकता है। जिस समन्वयिनी चेतना में इस प्रकार का क्रम अपने आप आविर्भूत होता है उसकी सत्ता भारतीय दर्शन में प्रारम्भ से ही स्वीकार की गयी है। महिम्नस्तोत्र, संक्षेपशारीरक, आत्मतत्त्वविवेक आदि में इस दिशा में प्रयत्न किये गए हैं। विज्ञानभिक्षु और नीलकण्ठ अपने-अपने ढंग से दर्शनों के पारस्परिक और पूरक सम्बन्धों की अनेक स्थलों पर चर्चा करते हैं। इस सबका प्रयोजन सिर्फ यह रेखांकित करना है कि भारतीय चिन्तन की विभिन्नताओं और दार्शनिक क्रियाओं में एक वास्तविक अन्विति है। यह अन्विति केवल प्रयोजनगत ही नहीं है बल्कि पद्धतिगत और प्रक्रियागत भी है।⁶

इस प्रसंग में प्रो. कालिदास भट्टाचार्य के कतिपय मन्तव्यों की चर्चा अप्रासंगिक न होगी जो उन्होंने कविराज की दार्शनिक दृष्टि के बारे में कहे हैं।⁷

उनके अनुसार दर्शन, जिसमें तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा भी अन्तर्भुक्त हैं, का विकास दो नितान्त भिन्न रूपों में हुआ है। पहले रूप में यह एक बौद्धिक विवरण मात्र है—जो कुछ भी सत् है उसके स्वरूप और व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्तों और सम्भावना-वाक्यों का व्यवस्थित रूप बहुत कुछ वैसा ही है जैसा हम विज्ञान में देखते हैं। यह दृष्टि वस्तुतः अनुभववादियों की है।

इसके अलावा एक दूसरे प्रकार का दर्शन भी है—भारत में और पश्चिम में, दोनों जगह। इसमें भी ऐसे प्रकथन होते हैं जिनका सम्बन्ध सतत अवधान से उपलब्ध मानवीय अनुभूतियों से है। ये प्रकथन भी यथासम्भव सुसम्बद्ध और बोधगम्य होते हैं। इस प्ररूप में यौक्तिक विश्लेषण, परिभाषण, निगमन आदि के रूप में बुद्धि का उपयोग होता है, परन्तु वह बौद्धिक व्यायाम या जोड़-गाँठ का साधन नहीं बनाई जाती। इस प्ररूप को हम अतीन्द्रिय या अतिक्रामी (ट्रान्सेन्डेन्टल) कहते हैं — जो व्यवहारोत्तीर्ण जगत् के हमारे अनुभवों का यथाशक्य क्रमबद्ध आलेख होती है। इस जगत् का अनुभव ऐन्द्रिय नहीं होता, यद्यपि उसकी प्रतीति अव्यवहित, साक्षात् होती है और उससे उत्पन्न ज्ञान ऐन्द्रिय बोध जितना ही आश्वासनकारी होता है। सामान्यतः इसे आत्मिक साक्षात्कार, प्रतिभान या अपरोक्षानुभूति कहते हैं और पारिभाषिक तौर पर यौक्तिक प्रतिभान, अतीन्द्रिय विमर्श, प्राक्सिद्ध पूर्वाशंसन या अस्तित्ववादी का वस्तुबोध कहते हैं।⁸ विषयात्मक अनुभव के क्षेत्र में, अर्थात् व्यवहार-जगत् के विषयों के क्षेत्र में, बुद्धि का उपयोग न्यूनातिन्यून क्रमबद्धता के लिए भी अपरिहार्य है। परन्तु पारमार्थिक अनुभवों के क्षेत्र में बुद्धि का उपयोग उतना ही नहीं है। यहाँ तक कि उसका परित्याग भी किया जा सकता है। इसका कारण है कि पारमार्थिक जगत् में हमारा अनुभव प्रातिभ विमर्श द्वारा होता है, जो जितना आत्म-सचेतन होता है उतना ही साक्षात् होता है। आत्म-चेतना या आत्मविमर्श के क्रमिक गम्भीरीकरण द्वारा प्रातिभबोध स्फुटतर होता जाता है, जिसमें उजागर होती हैं अनुभूत विषय की प्रागनुभविक विशेषताएँ। अध्यात्मवादी इसे ही प्रागनुभविक/आदिसिद्ध पूर्वाशंसन (ए

प्रायर्वाई एन्टीसिपेशन) कहते हैं—एकल व्यापार में अनन्त विशेषों की समग्रता का पूर्वसम्भावन। अध्यात्मवादियों की सामान्य धारणा है कि पदार्थ और उनके अनुभव परस्पर अभिन्न हैं, अर्थात् वे चेतना से पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि वहाँ विषय और चेतना का एकीभाव है। दूसरे शब्दों में, आपाततः भिन्न होते हुए भी वे अभिन्न हैं। यह अभेद वस्तुतः भेदाभेद सम्बन्ध के द्वारा भी व्याख्येय नहीं है, क्योंकि वह आदिसिद्ध स्वसंवेदन रूप है। दूसरे शब्दों में, वह अनुभव शुद्ध अहंता या विषयिता—अर्थात् अनुत्तर अनुभविता—का रूप मात्र है।

गोपीनाथ कविराज का सारा चिन्तन दर्शन की इस दूसरी विधा के साँचे में ढलकर चला है।

इससे सहज निष्कर्ष निकलता है कि कविराज की दृष्टि से भारतीय दर्शन जीवन और अस्तित्व के केन्द्रीय अर्थ के ज्ञान की अपेक्षा उसकी उपलब्धि के प्रति समर्पित रहा है और इसलिए उसकी प्रकृति साधनामूलक अधिक रही है। भारतीय दर्शन एक है और वे सारी दार्शनिक परम्पराओं और सम्प्रदायों में उसी केन्द्रीय अर्थ की अन्विति मात्रा-भेद और अभिव्यक्ति-भेद से पाते हैं।⁹ यह दृष्टि लगता है उन्हें भारतीय परम्परा से सामान्यतः और त्रिक परम्परा से विशेषतः अव्याहत प्राप्त हुई है। क्षेमराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञाहृदय में सारे दर्शनों में पारस्परिक मौलिक भेद न मानकर सोपानगत या अवस्थागत भेद माना है और उन्हें परम तत्त्व के भूमिकाभेद के रूप में ग्रहण किया है—‘तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः’ (सूत्र 8)। यह समग्रतावादी दृष्टि उनके चिन्तन में तीन प्रकार से कार्यरत हुई है। एक ओर यह साधना और दर्शन का पारस्पर्य और समानन्तर्य स्थापित करती है, दूसरी ओर सम्बद्ध दर्शन का व्यापकतर सन्दर्भ में तुलनात्मक प्रत्यभिज्ञान करती है।¹⁰ और तीसरी ओर विशिष्ट दर्शनों के अध्ययन-प्रसंग से ऐसे निष्कर्षों का निगमन करती है जो उस दर्शन की प्रकृति से आपाततः असमंजस लगने पर भी भारतीय दर्शन की मौलिक प्रकृति और उस दर्शन की अन्तरंग प्रातिस्विकता को पुष्ट करते हैं। पहला अंश तो लगभग उनके सभी लेखों में है। दूसरे अंश के उदाहरण के लिए गौड़ीय अचिन्त्य भेदाभेद, सूफी सम्प्रदाय और ईसाई रहस्यवाद के सन्दर्भ में प्रत्यभिज्ञादर्शन का विचार; वज्रयान और सहजयान के परिप्रेक्ष्य में शाक्तदर्शन का विचार तथा शून्याद्वैत, शब्दाद्वैत, ईश्वराद्वैत के परिप्रेक्ष्य में ब्रह्माद्वैत का विचार लिया जा सकता है। इस पद्धति का सहज लाभ यह हुआ है कि सिद्धान्त-बोध के प्रसंग में अब तक अबूझ अनेक पहेलियाँ उजागर हो उठी हैं। तीसरे अंश के उदाहरण के रूप में वेदान्त की भाँति सांख्य-योग को भी विशुद्ध प्रकृति के स्तर पर अभिन्ननिमित्तोपादानवाद का पोषक मानना,¹¹ योग में सबको सर्वात्मक और फलतः सर्वानुस्यूत मानना,¹² विवेकज्ञान और विवेकजज्ञान दोनों की महत्ता पर समान बल देना, और सत्त्व और पुरुष के शुद्धिसाम्य में कैवल्य को प्रतिष्ठित मानना (सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्—यो.सू. 3.55) आदि को लिया जा सकता है। कविराज जी की स्पष्ट मान्यता है कि किसी दार्शनिक व्यवस्था को सम्यक् रूप से समझने के लिए न केवल उसे उसके सही

परिप्रेक्ष्य में रखना आवश्यक होता है बल्कि उसे विभिन्न दृष्टिकोणों और विभिन्न सम्बन्धों में रखकर देखना भी आवश्यक होता है।

परन्तु यह बात याद रखने की है कि कविराज की इस उदार और समग्रताप्रवण दृष्टि का स्रोत काश्मीर शिवाद्वयवाद के प्रति उनकी प्रतिबद्धता ही है। सारे दार्शनिक सम्प्रदाय इसी एक दार्शनिक लता के पल्लवभूत हैं। कालिदास भट्टाचार्य ने इसी सत्य को इन शब्दों में उजागर किया है—गोपीनाथ कविराज ने, जो कि मुख्यतः शैव हैं, विशेषतः अद्वैतवादी प्रकार के, अपने शैव सिद्धान्त को इस प्रकार विकसित किया है कि उसमें इधर-उधर पदावली का थोड़ा परिवर्तन कर देने पर उसे सरलता से शैव द्वैतवाद, तंत्र और योग के विभिन्न रूपों तथा महायान बौद्ध मत एवं वैष्णव मत में (और बहुत सुंदर रूप से उसके गौडीय संप्रदाय में), यहां तक कि शांकर अद्वैतवाद में भी, परिवर्तित किया जा सकता है।

वस्तुतः कविराज जी की दृष्टि में प्रत्यभिज्ञा न्याय आदि की भाँति एक सिद्धान्त विशेष नहीं है¹³ बल्कि एक विशिष्ट चिन्तन-सराणि है। कविराज जी भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों को दो भागों में बाँटते हैं। एक वे जो किसी सम्प्रदायविशेष के वाचक हैं और दूसरे वे जो चिन्तन की पद्धति या प्रकार के। यह बात ध्यान देने की है कि कविराज जी काश्मीर शिवाद्वयवाद को चिन्तन-प्रक्रिया का एक प्रकार मानते हैं जिसकी आन्तरिक संरचना में तमाम अवान्तर सम्प्रदायों की विनियोजना सम्भव है। उनका विचार है कि न्यायवैशेषिक आदि की भाँति प्रत्यभिज्ञा शब्द एक सिद्धान्त विशेष का वाचक नहीं है। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द ऐतिहासिक रूप से वैसे ही सम्प्रदाय हैं जैसे क्रम, कुल, त्रिक और त्रिपुरा। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से—साधनागत, प्रक्रियागत विस्तारों को छोड़कर—उनका मौलिक तान्त्रिक रूप एक है और उस स्वरूप को इन दो शब्दों से ज्यादा कोई प्रतिनिधि रूप में नहीं प्रकट कर सकता। प्रत्यभिज्ञा जहाँ अद्वयतत्त्व की उपलब्धि में साधनात्मक और प्रमाणात्मक हथियार है वहाँ स्पन्द सत्ता की पारमार्थिक अद्वयता¹⁴ की सिद्धि का साधन। यही कारण है कि क्रम, कुल आदि दर्शनों के या साधना-पद्धतियों के विचारों पर प्रभूत चर्चा करने के बावजूद उन्हें स्वतन्त्र दर्शन का महत्त्व कविराज जी ने नहीं दिया है। इसी तरह से साधना की दो स्वतन्त्र पद्धतियाँ तन्त्र और कुल मानने पर भी उन्हें त्रिक में ही विश्रान्त माना है। सम्भवतः यह दृष्टि उन्हें अभिनवगुप्त से प्राप्त हुई है जो यह मानते हैं कि सारे उपाय—जो विभिन्न प्रस्थानों को बताने की एक पारम्परिक पद्धति है—अनुपाय, अर्थात् प्रत्यभिज्ञोपाय, में पर्यवसित होते हैं।

यह बात विचित्र है कि कविराज जी ने प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय पर विशेष प्रकाश नहीं डाला है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि यह सिद्धान्तविशेष न होकर दर्शन की मौलिक दृष्टि है। यह बात जानना रुचिकर होगा कि स्वयं प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रत्यभिज्ञा को ज्ञान का स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है, अपितु सारे प्रमाणों में और सारे प्रमा-व्यापार में प्रत्यभिज्ञा की अनुस्यूति देखी गई है। शांकर अद्वैत और शिवाद्वयवाद की तुलना करते हुए कविराज जी ने जिस पदावली का प्रयोग किया है—“शंकर का अद्वैतभाव व्यावृत्तिमूलक और

संन्यासमूलक है और काश्मीराचार्यों का ग्रहणमूलक किंवा अनुवृत्तिमूलक¹⁵— पर उसका आधार प्रत्यभिज्ञा की धारणा में ही छिपा है। इस ज्ञान को विवेकमूलक और काश्मीरियों की दृष्टि को सामरस्यमूला कह सकते हैं। ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र तक इसका विस्तार किया जा सकता है, जहाँ इसका प्रभाव ज्ञान की क्रमशः अध्यवसान-मूला (इतरनिषेधपूर्वक निश्चयन) और अनुसंधान-मूला (इतरग्रहणपूर्वक ज्ञान) प्रक्रियाओं में मिलता है।¹⁶ कहना न होगा कि प्रत्यभिज्ञा अनुसंधानात्मक ज्ञान है। अपूर्ण ज्ञान के जिस प्रत्यय की यहाँ उद्भावना की गयी है उसका पूर्णता में परिणमन इसी प्रत्यभिज्ञा द्वारा होता है। इस सन्दर्भ में यह कहना अहेतुक न होगा कि अद्वैत भक्ति, जिसका विस्तृत विवेचन कविराज जी ने किया है, का भी सम्पूर्ण आग्रह भक्त और भगवान् के भेद में नहीं है बल्कि उनके अनिवार्य अभेद में है। उनका विश्वास मनुष्य की आन्तरिक भगवत्ता में है। इसलिए भक्त का भगवान् में वास्तविक रूपान्तरण होता है।¹⁷ भक्ति की इस धारणा का उद्भव अणु और भूमा या पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता की धारणा से होता है।¹⁸ जीव और शिव एक ही हैं। योगी और परमशिव के समीकरण के द्वारा इसी बात को रेखांकित किया गया है। इस समीकरण का उपयोग इस बात को बताने में हुआ है कि ज्ञान और योग का चरम स्थिति में सामंजस्य है। दूसरे शब्दों में, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व में एकरूपता है—अर्थगत भेद के बावजूद तत्त्वगत ऐक्य है। जिनमें साँसिद्धिक स्वप्रत्ययात्मक ज्ञान का उदय होता है ऐसे योगी या ऐसे ज्ञानी दोनों ही पर्याय हैं—पूर्णत्व लाभ करके भी निष्क्रिय नहीं रहते। क्रिया उनका सहज धर्म बन जाता है। अपने में कृतकृत्य होने पर भी लोकानुग्रह या लोकसंग्रह उनका कर्तव्य बन जाता है। ज्ञान और क्रिया का यह समन्वय लोकस्थिति में भी अव्याहत रहता है।¹⁹

मुक्ति की जो धारणा यहाँ की गयी है वह शिव-शक्ति-सामरस्य के मूल प्रत्यय का विस्तारमात्र है। पूर्णता का अर्थ है भोग और मोक्ष की साम्यावस्था। भोक्ता और भोग्य के एकीभाव को 'भोग' भी कहते हैं और 'मोक्ष' भी। वस्तुतः विश्वोत्तीर्ण को अपनी विश्वात्मकता की—'सर्वो ममायं विभवः' अनुभूति होती है। यही भोग है।

पूर्ण सत् के सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति को भक्ति में मानकर और भक्ति के रसत्व को सामने लाकर कविराज जी ने इस बात का भी मार्ग प्रशस्त किया है कि किस प्रकार से काश्मीर शैव दर्शन की मान्यताओं में एक समर्थ सौन्दर्यशास्त्र के बीज छिपे हैं। एक प्रकार से अभिनवगुप्त का रसशास्त्र शिवाद्वयवाद की प्रयोगात्मक तत्त्वमीमांसा है। इसके अनुसार भोक्ता, भोग्य और भोग वस्तुतः एक ही पदार्थ हैं—रसस्फूर्ति के समय इनका पृथग्भाव नहीं रहता है। यदि रहे तो रस का स्फुरण नहीं हो सकता—'भोक्तैव भोगरूपेण सदा सर्वत्र संस्थितः।'

इसलिए अभिनवगुप्त का सारभूत सिद्धान्त यह है कि पूर्ण निरन्तर अपने आप में ही आस्वादन कर रहा है। इसका फलितार्थ यह है कि भक्ति-योग-भोग रस के उपेय भगवान्-परमशिव-पारमार्थिक अद्वयतत्त्व ही एक नहीं है बल्कि उनके उपाय भक्ति-योग-ज्ञान-क्रिया (भोग)-रस भी परस्पर एक हैं। परम सत् केवल पारमार्थिक सत्ता ही नहीं है बल्कि वह चरम

मूल्य भी है। सामरस्य का यह भी एक अर्थ है—परम तत्त्व में चरम सत् और चरम मूल्य का एकीकरण। व्यष्टि में समष्टि की अनुस्यूति का अर्थ है सारे विकास के केन्द्र में मनुष्य को मूल रूप से प्रतिष्ठित करना, क्योंकि व्यक्ति और विराट् दिव्यता में एक हैं। “जो ‘प्रदत्त’ है वह त्याज्य या तुच्छ है और जो ‘उत्तीर्ण’ या ‘परे’ है वही एक मात्र काम्य या प्राप्य है”, ऐसा नहीं। पूर्णता का अर्थ है ‘प्रदत्त’ और ‘प्राप्तव्य’ दोनों की दिव्यता। अर्थात् इस जीवन में भी मूल्यवत्ता और उपादेयता का आसूत्रण। यही शैवागम की ‘विश्व दृष्टि’ है। कविराज जी कहते हैं—‘माया अथवा तत्प्रसूत जगत् का त्याग करके नहीं वरन् उसको साक्षात् ब्रह्मशक्ति और उसके विकास रूप में अनुभव करने से ही जीवन की सार्थकता सम्भव है।’²⁰ इसका अपरिहार्य परिणाम है जीवन्मुक्ति के अनन्तर भी व्यक्ति की लोकानुग्रह में अनायास प्रवृत्ति।²¹ कविराज जी का जो अपना सिद्धान्त है, जिसे उन्होंने अखण्ड महायोग कहा है, जिसका लक्ष्य है समग्र विश्व का सामूहिक कल्याण, एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति, काश्मीर शिवाद्वयवाद से ही उद्गत परन्तु उससे आगे की धारा है। उनकी दृढ़ मान्यता है कि योगी पूर्णत्व लाभ करके कभी भी निष्क्रिय नहीं बैठता। उसका स्वभावसिद्ध कर्म सदा चलता ही रहता है। इसीलिए पूर्णता-प्राप्ति के अनन्तर भी पूर्ण को पूर्णतर, पूर्णतम आदि के क्रम में अनन्त अवस्थाओं के द्वारा उत्कृष्ट करते जाना, यही योगी के कर्म की स्वाभाविक परिणित है।

आनंद मंगल, बी 202/203
स्टर्लिंग अपार्टमेंट्स, विश्वविद्यालय मार्ग,
लखनऊ-226007

सन्दर्भ

- * प्रस्तुत लेख काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सम्पन्न महामहोपाध्याय गोपनीय कविराज शताब्दी समारोह के समापन कार्यक्रम (सितम्बर 3-7, 1987) में पढ़ा गया था। कतिपय साधारण परिमार्जनों के साथ यह लेख अविकल प्रकाशित हो रहा है। इस लेख की विशेष पृष्ठभूमि रही है। मार्च 1986 में हम सब जयपुर में कविराज जन्म शताब्दी समारोह की चतुर्वार्षिक शृंखला के तीसरे चरण में इकट्ठा हुए थे। उस समय अनेक सम्बन्धित प्रश्न उभरे थे। सबसे मौलिक प्रश्न था कि कविराज जी का प्रातिस्विक दार्शनिक रूप क्या है? दूसरे शब्दों में, दर्शन और साधना को परस्पर अलग कर तथा दर्शन की पारम्परिक अवधारणा का आश्रय लेकर क्या कविराज जी को दार्शनिक कहा जा सकता है? यदि नहीं तो कविराज जी की अपनी दृष्टि में साधना से अलग दर्शन की इयत्ता और इतिकर्तव्यता क्या है जिससे कि उनके दार्शनिक अवदान का उचित मूल्यांकन किया जा सके? प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में वे प्रश्न फिर प्रासंगिक हो उठे हैं, क्योंकि इनके उत्तर ही दर्शन और फिर भारतीय अन्वीक्षा के रूप में उनकी दृष्टि का आकलन करने में सहायक होंगे। स्वयं कविराज जी, प्रो. दयाकृष्ण, कालिदास भट्टाचार्य और गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय आदि मनीषियों ने इस पर जो गम्भीर विचार किया है उसी का आश्रय लेकर मैं कुछ प्रगल्भ होने का साहस जुटा रहा हूँ।

1. तंत्रालोक-विवेक, जयरथ, काश्मीर संस्करण, भा. 12, पृ. 428
2. The reason why no serious attempt was made is said to have been either that it was deemed improper to drag down for rational examination truths inaccessible to the experience of ordinary men, or that no further systematization of the revealed truths than what is contained in the allied works of the Saiva philosophers was needed for the average reader. This reason is not convincing enough, for if the Upanisads could be made the basis of a philosophical system, there is no reason why the Sakta Agamas could not be similarly utilized. For the function of philosophy is, as Joad rightly remarks, to accept the data furnished by the specialists who have worked in the field and then to assess their meaning and significance.
 एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन थॉट, बर्दवान, द्वितीय संस्करण, पृ. 174-175
3. वही, पृ. 71-76
4. Nevertheless it is desirable to say just a few words by way of introduction concerning the aims and methods of this philosophy and the meaning of philosophy in general in India. वही, पृ. 71
5. तुलना कीजिए—“उक्तेषु त्वप्रमाणकेष्वपि अभिधेयादिषु संशय उत्पद्यते। संशयाच्च प्रवर्तन्ते। अर्थसंशयोऽपि हि प्रवृत्तयकं प्रेक्षावताम् ... अर्थसम्भावना अनर्थसंभावनाविरुद्धा उत्पद्यते। तया प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते।” —न्यायबिन्दु 1.1 पर धर्मोत्तर की टीका; और भी देखिए, ‘संशयादिभेदानुविधायिनी आन्वीक्षिकी’ न्यायवार्तिक, पृ. 13
6. एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन थॉट, बर्दवान, द्वितीय संस्करण, पृ. 76
7. गोपीनाथ कविराजस थॉट्स-दुवर्ल्स अ सिस्टेमेटिक स्टडी, कालिदास भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1982, पृ. 1-7
8. Commonly, it is termed spiritual perception, intuition, enlightenment, etc., and, technically, rational intuition, transcendental reflection, a priori anticipation (of nature and its diverse features), (Phenomenological) intention, (the existentialist's) authenticity, etc.
 गोपीनाथ कविराजस थॉट्स-दुवर्ल्स अ सिस्टेमेटिक स्टडी, कालिदास भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1982, पृ. 3
9. इस सम्बन्ध में उन्होंने ज़रा भी सन्देह नहीं रहने दिया है। डॉ. नथमल तातिया की पुस्तक स्टडीज़ इन जैन फिलासफी में वे कहते हैं—We have had enough of analytical work attempting to describe the different systems in isolation, taking each as a distinct prasthana and proceeding along its own line. But time, I believe, has come when scholars should come

out from their narrow grooves, take up a synthetic view of things, and try to discover the underlying unity and interpret India's outlook as a whole. (p. xxiii) यह बात उन्होंने अनेक जगह कही है, यह उद्धरण केवल उपलक्षणात्मक है।

10. इस दृष्टि के पल्लवन के लिए देखिए प्रो. ब्र.व. द्विवेदी का लेख 'आगम एवं तन्त्रशास्त्र को कविराज जी की देन', पृ. 30
11. एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन थॉट, बर्दवान, द्वितीय संस्करण, पृ. 95-96
12. एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन थॉट, बर्दवान, द्वितीय संस्करण, पृ. 105
13. वही, पृ. 71, भारतीय संस्कृति और साधना, पटना, पृ. 1, 3; तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पटना, पृ. 1
14. अद्वयता की व्याख्या 'पूर्णता' या 'सामरस्य' की शब्दावली में की गयी है। दोनों प्रत्ययों का लक्ष्यार्थ यद्यपि एक है तथापि उनके अभिधेयार्थ में सूक्ष्म अन्तर है। 'पूर्णता' मूल तत्त्व की अखण्ड आत्म-सामर्थ्य का बोधक प्रत्यय है और 'सामरस्य' उसके विरोध-परिहारात्मक स्वरूपावस्थान का।
15. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग-1, पृ. 5
16. प्रस्तुत लेखक का 'तान्त्रिक दर्शन : प्रकृति और सांस्कृतिक सन्दर्भ' शीर्षक लेख, परिषद् पत्रिका, पटना, कविराज स्मृति विशेषांक, पृ. 38
17. इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, लन्दन, भाग-2, पृ. 190
18. अण्डपिण्डरुभयोरैकरूप्यमाम्नायेषु प्रसिद्धम्। महार्थमंजरी-परिमल, वाराणसी, पृ. 8
19. भारतीय संस्कृति और साधना, पटना, भाग-1, पृ. 230-33, 256-57
20. भारतीय संस्कृति और साधना, 1, पृ. 6
21. वही, पृ. 232, 256
 इस प्रसंग में अभिनवगुप्त का निम्नलिखित श्लोक कविराज जी को अत्यन्त प्रिय रहा है—
 स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्नात्रो पारार्थ्यं प्रति घटयते कांचन स्वप्रवृत्तिम्।
 यस्तु ध्वस्तारिखलभवमलो भूवीभावपूर्णः
 कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम्॥—तंत्रालोक 2.39



